सत्यांश

कवि नीरज के शब्दों में,

बस यही अपराध मैं हर बात करता हूँ,
आदमी हूँ आदमी को प्यार करता हूँ।

पर प्रेम का चाहे पूरा न सही, लेकिन थोड़ा भी भाव रखना कोई अपराध है? जब कुछ बुरा करते हैं तो अपराध होता है। अपराध-बोध, पछतावा और पश्चाताप भी इसी अपराध के प्रति होता है, निस्संदेह सबको अपराध-बोध भी नहीं होता, कुछ ही पश्चाताप कर पाते हैं। लेकिन जब परिणाम आशानुरूप न हो, सफलता न मिले, तो अपने अच्छे किए पर भी पछतावा या ग्लानि-जैसा ही कुछ होता है। अच्छा करके भी पछताना पड़े तो इससे बड़ा दुर्भाग्य व्यक्ति और समाज के लिए कुछ नहीं हो सकता, हालाँकि विवेकशील और अपनी अच्छाई में दृढ़ भरोसा रखने वाले कभी पछताते नहीं, चाहे परिणाम उल्टा हो या सीधा।

अपनी अच्छाइयों पर अडिग भरोसा रखना तो ठीक है; परंतु सब लोग इस अदम्यता को पसंद करें, यह असंभव है। इसीलिए क्लेश और संघर्ष होता है। यह संघर्ष का प्लेटफार्म ऐसा होता है जो मनचाहा नहीं होता, किसी और की रणभूमि या कुरुक्षेत्र में चाहे-अनचाहे जूझना पड़ता है, पर युद्धस्थल तो युद्धस्थल है चाहे मन का हो या बेमन का। संसार में कम ही ऐसे सौभाग्यशाली हुए हैं, जिनके मन-मुताबिक संघर्ष-क्षेत्र रहा हो, अर्थात् दूसरे की बनाई और थोपी रणभूमि पर हमें जूझना पड़ता है। यह संघर्ष सिर्फ सामरिक नहीं होता, वरन् जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में होता है, जहाँ व्यक्ति, जाति, क्षेत्र, संप्रदाय व परिस्थितियाँ जिम्मेदार होती हैं। आमतौर पर युद्ध-संघर्ष पैदा करने वाले या थोपने वालों का ही अपना अपना मोर्चा होता है। रामायण और महाभारत युद्ध को थोपने वाले राम और पांडव नहीं थे, सारी पृष्ठभूमि रावण-दुर्योधन पक्ष ने तैयार की थी, बेशक वे पराजित रहे, पर युद्ध क्षेत्र उन्हीं का बनाया हुआ था, जिसमें एक से एक सदाचारी, पराक्रमी, विवेकवान, ज्ञानी उतरे। बहुतों के लिए उस युद्ध में उतरना एक बेमन एवं मजबूरी का कार्य था, क्योंकि वे इसे टाल नहीं पाए थे। आधुनिक विश्व में भी युद्ध-संघर्ष थोपने वालों और उन्हें सहृदयता से ग्रहण करने वालों की कमी नहीं है, क्योंकि उनके स्वार्थों की पूर्ति के लिए यह 'थोपना' 'ग्रहण करना' अनिवार्य है। कोई और भी मार्ग हो सकता है, यह उन्हें पसंद नहीं। जो अपने बनाए मार्ग पर चलने का प्रयास करते हैं, उन्हें भी ये अपनी तरफ खींचने के लिए कुछ ऐसी ही तरकीब ढूँढ़ते हैं। इसलिए प्रश्न यह नहीं कि संघर्ष में क्या हुआ, संघर्ष किससे हुआ, बल्कि यह है कि संघर्ष का आदि-स्रोत क्या है? संघर्ष-युद्ध का उत्पादक कौन है, माध्यम कौन है और उसकी जड़ क्या है? कई बार जब हम मूल बात नहीं कहना चाहते, तो संघर्ष की कोई अन्य भूमि तैयार करते हैं।

पिछले दिनों भी यही हुआ, जिसका अंदेशा था और जिसकी पृष्ठभूमि पिछले सात-आठ साल से तैयार हो रही थी, जिसे टालने के लिए भारत के प्रधानमंत्री, गृहमंत्री से लेकर राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग एवं न्यायालय तक का दरवाजा खटखटाया था। घटनाओं और आशंकाओं को कई तरह से जाहिर किया था, यह जानकर और मानकर भी कि वैधानिक और व्यावहारिक रूप से सकारात्मक होना मुश्किल है- इसके लिए बहाने भी बहुत बना लिए गए हैं। सारी मर्ज की दवा के लिए होम्योपैथी के विशेष पाउडर की तरह कुछ विन्दु तैयार कर लिए गए हैं, जिन्हें हर समस्या के निदान के लिए मिश्रित किया जाता है। इस बात से क्या फर्क पड़ता है कि किसी घटना को अंजाम देने वाला कौन है, वह किसका मोहरा है? क्या अटल को टलनीय नहीं बनाया जा सकता? जो कुछ टल सकता है, उसे अटलनीय बनाने का उनका खुद का प्रायोजित कार्यक्रम है, जिसे विधि का विधान, नियति का खेल और कर्मफल के सिद्धांत का मानवीय, धार्मिक, आध्यात्मिक एवं पौराणिक जामा पहनाया जाता है।

यह तो होना ही था, क्या इसलिए कुछ होता है, विशेष कर तब, जब इसे न होने देने के लिए तमाम प्रयास किए जाएँ; परंतु एक आदमी प्रयास कर रहा हो और सैकड़ों-हजारों लोग उस प्रयास को विफल करने में हर तरफ से जुटे हों और उनमें भी बड़े-बड़े धुरंधर से लेकर नजदीकी लोगों तक, तो उसे कैसे टाला जा सकता है? बस टालने वाले सिर्फ इतना टालते हैं कि चतुराई से अपनी बला का माध्यम किसी अन्य को बना देते हैं। यह भी हो सकता है कि कोई अपना मोहरा स्वयं ही बना हो, वह बहुत 'सगा' ही क्यों न हो, तब भी टालने वालों

पर अनहोनी टालने की जिम्मेवारी तो रहती ही है। वैसे लोगों से क्या कहा जाए, जो मुखर होकर या शांत होकर खुद किसी और के मत्थे मढ़कर यह सब कराते रहे हैं। प्रत्येक स्थिति में ये ऐसे ही थे, जैसे अब हैं यानी जैसा किया जा रहा है, उसे नैतिक, वैधानिक रूप से सही मानने के कारण ही कोई ऐसा करता है और जब वह सही मानता है तो उसमें दूसरा कोई क्या कर सकता है?

जिस अंदेशे का ऊपर जिक्र है, वह एक मारपीट की घटना से संबंधित है जिसमें कुछ खास लोग शामिल थे। इन खासों पीछे कौन-कौन से खास थे, यह रहस्य का विषय है। सन् 2003 में बिजनौर के धामपुर में कॉलेज प्रवक्ता के रूप में काम करने के बाद से पहले स्थानीय, फिर उससे ऊपरी स्तर पर अपने प्रति एक ऐसा माहौल बनते देखा, जिसकी कल्पना दुर्दांत पीड़ा को जन्म देती है। तमाम पत्राचारों से लेकर टेलीफोन तक और अन्य सामूहिक स्तर पर सशक्त आवाज उठाकर भी उत्तर में घोर असंवेदनशीलता की चरम पराकाष्ठा देखी, फलतः 2008 मे नौकरी से इस्तीफा दे दिया, उसके बाद बहरे-निकम्मे लोगों के कानों और कार्यों की अतिसंवेदना सामने आई, जिसका कुप्रभाव आज तक झेलना पड़ रहा है। इतना ही नहीं, यह दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है। प्रतिगामी ताकतों का प्राचुर्य व गहरी व्यापकता इतनी सघन हो गई है कि इससे अपनी तरह से अच्छे ढंग से निजात पाना असंभव हो गया है। अपने या किसी अन्य की 'मौत' या 'मौत-जैसे' की स्थिति ही इसका एकमात्र निदान चालाक तंत्र ने बना दिया है। निन्यानबे प्रतिशत इस स्थिति से बचना नामुमकिन है, जिसे पिछले सात-साठ सालों से तमाम विरोधों के बावजूद सत्ता तंत्र और जाति-विशेष ही नहीं, समाज के एक नितांत रूढ़ तबके द्वारा बना दिया गया है। बेशक, उनके द्वारा सारा दोष तब भी हम पर ही मढ़ा जाता था और अब भी, क्योंकि ये लोग, जब इन्हें उचित फैसला करना था, तब अकर्मण्यता-अनसुनी प्रदर्शित करते रहे। इसे ढँकने के लिए भी दूसरे मुद्दों पर भटकाना जरूरी है। दूसरा, वैधानिक क्रिया में इनका थोड़ा भी विश्वास नहीं है, तीसरा, अपनी बात को तरीके से कहने का माद्दा खो चुके हैं, इसलिए हमारे फँसने और दुरावस्था में रहने पर ही उनकी आवाज निकलती है, निकल सकती है। ये वैधानिक माँगों को मान नहीं सकते, तब मानेंगे जब आपका कानूनी पक्ष दुर्बल हो और दूसरा, स्वयं कानूनी कार्यवाही कर नहीं सकते, तब करेंगे जब हम कानून की दृष्टि में दोषी साबित हों। वस्तुतः एक-दो आदमी जब कोई मनमानी करता है तो वह अलग बात है; परंतु जब सारा तंत्र ही इसको उचित मानता और सोचता हो, तो इसका मतलब है कि या तो आप गलत हैं या फिर वे।

'वो' गलत कैसे हो सकते हैं? 'वो' तो सामूहिक चेतना के प्रणेता हैं। सामूहिक चेतना चाहे कैसी भी हो, बहुमत की चेतना तो है ही। जब उनके 'सपने' सबके सपने बन गए, उनका 'ड्रीम प्रोजेक्ट' सबका ड्रीम प्रोजेक्ट बनता गया, फिर चाहे वह परियोजना हमारे सर्वनाश के लिए ही बनाई गई हो, तब भी उसमें सामूहिक जातीय-प्रशासनिक चेतना की अनुगूँज तो है ही। संभवतः किसी जाति-संप्रदाय का जिक्र किए बिना यह कहा जा सकता है कि कमोबेश इस कार्य में प्रत्येक वर्ग के लोगों की भागीदारी है। हर वर्ग, क्षेत्र, जाति, संप्रदाय के लोग जब भी फैसले की बारी आई, इसी तरह की धारा बहाते रहे हैं। आज 'वो' छाए हुए हैं, लेकिन अपना तो उनसे तब भी उतना ही विलगाव था, जितना अब। इसलिए यह प्रश्न अब अप्रासंगिक है कि 'वो' खुद आए या उनके दूसरे प्रतिरूप आए, अपनी करतूत दिखाई और चलते बने, आगे की तैयारियाँ करने। परंतु चलते-चलते कुछ मसाले औरों को दे गए, जिनसे भोजन चटपटा बनता रहे। यह सही है कि अब तक 'वो' साक्षात् नहीं दिखे, पर उनसे एकाकारता की अविरल अभिन्न धारा अवश्य प्रवाहित होती रही, फलतः 'वो' कुछ हैं, इसका एहसास सदैव बना रहा। उक्त घटना से पहले भी 11 मार्च, 2011 को वे स्वयं तो नहीं, परंतु अपना वर्गीय प्रतिनिधि अनिल अग्रवाल के माध्यम से लक्ष्मीनगर के राधू पैलेस वाली सड़क पर 'कार चढ़ाने' की कोशिश करते देखे गए थे।

कोई भी व्यक्ति एकदम से यह नहीं मान लेता कि उसकी शिक्षा, चेतना एवं ज्ञान चाहे थोड़ा ही हो, यों ही खत्म हो जाएगा अथवा खत्म कर दिया जाएगा। चाहे लाख घेरेबंदी ही क्यों न हो, ऐसा मानना अपनी आत्मिक चेतना को पहले ही नष्ट होना मानना है। इसीलिए आदमी भरपूर प्रयास करता है कि उसके साथ और उसके द्वारा सदैव अच्छा ही हो। परंतु अपराध सिर्फ अपराधी ही नहीं करते, वे भी करते हैं जो आपराधिक प्रवृत्ति के तो नहीं हैं; परंतु परिस्थितियों में फँस चुके हैं। ऐसे लोगों को अपराध में प्रवृत्त होने से बचाया जा सकता है। अभी अपने प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह को प्रतिष्ठित 'टाइम' पत्रिका ने फिसड्डी प्रधानमंत्री के खिताब से नवाजा है। भारत के कई सारों की राय इससे मिलती-जुलती है और अनेकों का इसके विपरीत भी मत है। परंतु स्वयं डॉ. मनमोहन सिंह जी 'टाइम' की इस टिप्पणी के बारे में अपना आकलन करें, तो बेहतर और उपयोगी होगा। ☆